

चतुर्थ मंडल

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

देवसंस्कृति-जिज्ञासा प्रकरण

गुरुकुलेषु तदाऽन्येषु छात्रा आसंस्तु ये समे ।
गुरुजनैः सह ते सर्वेऽप्यायाता द्रष्टुत्सुकाः ॥ १ ॥
ऋषेः कात्यायनस्येमां व्यवस्थामुत्तमामपि ।
तस्याऽध्यापनशैली तां चर्यां च ब्रह्मचारिणाम् ॥ २ ॥
तैः श्रुतं यन्महर्षेर्यद् विद्यते गुरुकुलं शुभम् ।
छात्रनिर्माणशालेव यत्रत्याः स्नातकास्तु ते ॥ ३ ॥
समुन्नता भवन्त्येवं मन्यन्ते संस्कृता अपि ।
सफला लौकिके संति समर्था अपि जीवने ॥ ४ ॥
संपन्ना अपि चारित्र्य - संयुक्ता व्यक्तिरूपतः ।

उदात्तास्ते तथैवोच्चैस्तदा गणयन्त उत्तमैः ॥ ५ ॥

टीका—एक बार अन्यान्य गुरुकुलों के छात्र अपने-अपने गुरुजनों समेत महर्षि कात्यायन के आश्रम की व्यवस्था और अध्ययन शैली व दिनचर्या का पर्यवेक्षण करने आए। उनसे सुना था कि कात्यायन का गुरुकुल टकसाल है, जिसमें पढ़कर निकलने वाले स्नातक न केवल समुन्नत होते हैं, वरन् सुसंस्कृत भी माने जाते हैं। वे लौकिक जीवन में समर्थ, सफल और संपन्न रहते हैं तथा व्यक्तिगत जीवन में चरित्रवान्, उदात्त एवं मूर्द्धन्य स्तर के गिने जाते हैं ॥ १-५ ॥

वैशिष्ट्यं चेदृशं छात्राः केनाधारेण यांति ते ।

इदं द्रष्टुं च विज्ञातुं छात्रास्ते गुरुभिः सह ॥ ६ ॥

विभिन्नेभ्यः समायाताः क्षेत्रेभ्य उत्सुका भृशम् ।

तदागमनवृत्तं च सदस्यैर्ज्ञातमेव तत् ॥ ७ ॥

टीका—ऐसी विशेषताएँ किस आधार पर छात्रगण प्राप्त करते हैं? यह जानने देखने की अभिलाषा लेकर वे छात्र मंडल अध्यापकों समेत विभिन्न क्षेत्रों, देशों से आए थे। उनके आगमन और उद्देश्य की पूर्व सूचना कात्यायन गुरुकुल के सभी छोटे-बड़े सदस्यों को विदित हो गई थी ॥ ६-७ ॥

ध्यानेनागंतुकाः सर्वे दिनचर्या व्यवस्थितिम् ।

कात्यायनाश्रमस्यास्य स्वच्छतां व्यस्ततामपि ॥ ८ ॥

अनुशासनसम्मानं तत्रत्ये पाठ्यसंविधौ ।

सुसंस्कारित्वभावं तं व्यवहारेऽवतारितुम् ॥ ९ ॥

पालितुं च सदाचारमध्यापनमिवानिशम् ।

कर्तव्यं निजदायित्वं पालितुं चानुशासनम् ॥ १० ॥

ध्यानं तत्र विशेषं हि दिनचर्यागतं ह्यभूत् ।

वैशिष्ट्यं मौलिकं चाभूदेतदेवास्य सुदृढम् ॥ ११ ॥

टीका—आगंतुकों ने कात्यायन आश्रम की दिनचर्या,

व्यवस्था, स्वच्छता, व्यस्तता और अनुशासनप्रियता को ध्यानपूर्वक देखा। पाठ्य पुस्तकों के अध्ययन-अध्यापन की भाँति ही सुसंस्कारिता को व्यवहार में उतारने तथा शिष्टाचार पालने, कर्तव्य-उत्तरदायित्व समझने और उन्हें पालने के लिए अनुशासन बरतने पर समुचित ध्यान दिया जाता था यही इस आश्रम की सुदृढ़ मौलिकता थी ॥ ८-११ ॥

नैवाध्ययनमेवात्र पर्याप्तं भवति त्वयि ।

नेतुं तान् प्रगतीं छात्रान् महामानवतामपि ॥ १२ ॥

व्यवहारे समावेशोऽभ्यासश्चापि विशेषतः ।

सदाशयसमुद्भूतो मतस्त्वावश्यकः सदा ॥ १३ ॥

टीका—व्यक्तित्वों को उभारने और सामान्य मनुष्यों को महामानव बनाने में मात्र अध्ययन ही पर्याप्त नहीं होता, व्यवहार में सदाशयता का समावेश अभ्यास इसके लिए नितांत आवश्यक है। इस सिद्धांत को उस आश्रम में भली प्रकार चरितार्थ होते हुए सभी आगंतुकों ने पाया ॥ १२-१३ ॥

गुरुकुलों की महामानवों को ढालने वाली टकसाल के रूप में मान्यता देवसंस्कृति की अनेकानेक विशेषताओं का एक अंग रही है। ऐसे शिक्षालयों से तपकर निकलने वाले विद्यार्थी एकांगी प्रवीणता मात्र नहीं प्राप्त करते थे, अपितु अपने आपको संस्कारों की निधि से संपन्न बनाकर व्यावहारिक दृष्टि से बहिरंग जीवन में भी कुशल एवं सूझ-बूझ के धनी बनकर निकलते थे। ऐसे आरण्यकों के प्रति ऋषि समुदाय एवं अन्यान्य छात्रों की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है।

विद्यालय का परिकर अपने एक-एक अंग से अपना परिचय देता है। बाह्य सुसज्जा, विद्यार्थियों का ठाट-बाट से रहना, बैठने-पढ़ने की सुव्यवस्था होना भर पर्याप्त नहीं। यह बाह्याडंबर तो आज हर कहीं रास्ता चलते देखा जा सकता है। अध्ययन-अध्यापन की श्रेष्ठ व्यवस्था होना भी समुचित नहीं। संस्कारों के अभिवर्द्धन के लिए, व्यक्ति को महामानव रूप में ढालने के लिए आत्मानुशासन को जीवन का अंग बनाने के लिए, उदारता परमार्थ परायणता को व्यवहार में समावेश करने हेतु क्या प्रयास पुरुषार्थ अध्ययन-अध्यापन के साथ किया गया, वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसी में विद्यालय के विद्या का घर कहे जाने की सार्थकता है।

आश्रमस्थैस्तथा तत्र समायातैश्च निश्चितम् ।

अवरुद्ध्य तु सप्ताहं शिक्षां तां लौकिकीं भवेत् ॥ १४ ॥

विद्याया विषये चर्चा याऽमृतत्वाय कल्पते ।

स्वभावे विनयं शीलं समाविष्टं करोति या ॥ १५ ॥

४.२ प्रज्ञोपनिषद्

अपेक्ष्य लौकिकीं शिक्षां विद्या या त्वात्मवादिनी।

तुलनायां महत्त्वं तु तस्या एवाधिकं मतम् ॥ १६ ॥

उपस्थिता जनाः सर्वे ज्ञातुमेतच्च विस्तरात्।

ऐच्छन्त्येन समे तथ्यं कुर्युस्तेऽवगतं स्वतः ॥ १७ ॥

टीका—आगंतुकों और आश्रमवासियों ने मिलकर निश्चय किया कि एक सप्ताह तक लौकिक जानकारी दे देना वाला शिक्षाक्रम बंद रखा जाए और विद्या पर अधिक प्रकाश डाला जाए, जो अमृत कहलाती है और स्वभाव में विनयशील शालीनता का समावेश करती है। लौकिक शिक्षा की तुलना में आत्मवादी विद्या का कितना अधिक महत्त्व है इसे सभी उपस्थित जन और भी अधिक विस्तार से जानना चाहते थे। या इस तथ्य से किसी न किसी रूप में अवगत तो सभी थे ॥ १४-१७ ॥

साप्ताहिकं समारब्धं संस्कृतेः सत्रमुत्तमम्।

आगतः समुदायश्च यथास्थानमुपाविशत् ॥ १८ ॥

उद्बोधको महर्षिः सोऽगादीत्कात्यायनस्तदा।

प्रगतेः सार्वभौमाया नृणामाधारगानि तु ॥ १९ ॥

तथ्यानि यानि संप्राप्य स्फुलिंगं इव शक्तिमान्।

विकासं पूर्णमासाद्य जीवो ब्रह्म भवेद् ध्रुवम् ॥ २० ॥

टीका—एक सप्ताह का संस्कृति सत्र आरंभ हुआ। उपस्थित समुदाय अपने-अपने निर्धारित स्थानों पर पंक्तिबद्ध होकर आसीन हुआ। उद्बोधनकर्ता महर्षि कात्यायन ने जिज्ञासुओं की आकांक्षा के अनुरूप मनुष्य की सर्वतोमुखी प्रगति के आधारभूत तथ्यों पर प्रकाश डालना आरंभ किया, जिन तथ्यों को प्राप्त कर शक्तिशाली चिंगारी के रूप में विद्यमान जीव पूर्ण विकास को प्राप्त कर ब्रह्मरूप बन जाता है ॥ १८-२० ॥

कात्यायन उवाच—

भद्रा! जन्मना मर्त्यः पशुवृत्तियुतो भवेत्।

संज्वितो व्यवहारो यो योनिषु स हि निम्नगः ॥ २१ ॥

भ्राम्यताशीतिसंख्यासु चतुरुत्तरकासु तु।

गरिष्णो मर्त्यभावस्य त्याज्यो विस्मर्य एव सः ॥ २२ ॥

देवयोनिगरिष्णश्च योग्यानां गुणकर्मणाम्।

प्रकृतेरपि चाभ्यासः कर्तव्यो मर्त्यजन्मनि ॥ २३ ॥

त्यागस्वीकारयोरेवानयोर्वा प्रक्रिया मता।

देव - संस्कृतिरुक्ताऽतो देवत्वं नर आश्रयेत् ॥ २४ ॥

टीका—कात्यायन बोले, हे भद्रजनो मनुष्य जन्मतः पशु-प्रवृत्ति का होता है। चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते समय जो व्यवहार संचित किया गया है, वह मनुष्य जीवन की गरिमा को देखते हुए ओछा पड़ता है। इसलिए उसे भुलाना, छोड़ना पड़ता है। इस देव योनि की गरिमा के उपयुक्त गुण, कर्म, स्वभाव का अभ्यास करना पड़ता है। इसी छोड़ने

ग्रहण करने की उभयपक्षीय प्रक्रिया को देव संस्कृति भी कहते हैं, जिससे मनुष्य देवत्व को प्राप्त करता है ॥ २१-२४ ॥

शिक्षा और विद्या में अंतर समझना अत्यंत अनिवार्य है। बहुसंख्य व्यक्ति दोनों को एक ही मानते एवं स्वयं तथा अपनी संतानों के लिए बहिरंग की जानकारी देने वाली शिक्षा को ही समुचित मान बैठते हैं।

शिक्षा का अर्थ है, जानकारी को व्यापक बनाना, बुद्धि विस्तार करना, ताकि वह दैनंदिन जीवन में काम आ सकें। विद्या वह है, जो जीवन को सुसंस्कारी बनाती एवं आत्मिक प्रगति में सहायक भूमिका निभाती है। दोनों ही समग्र मानवी विकास के लिए जरूरी हैं। जहाँ एक व्यक्ति के बहुमुखी लौकिक विकास के लिए उत्तरदायी है, वहाँ दूसरी, व्यक्ति के अंतःक्षेत्र के परिशोधन, परिष्कार एवं उन्नयन की भूमिका संपादित करते हैं। अतः शिक्षा मनुष्य के बहिरंग जीवन को सुविकसित करती है और विद्या अंतरंग को। शिक्षा सांसारिक योग्यता, प्रतिभा बढ़ाती है और विद्या मनुष्य को सुसंस्कारी, उदार, उदात्त बनाती है व्यक्तित्व को श्रेष्ठता एवं शालीनता से सुसंपन्न करती है। एक को सभ्यता के विकास का साधन तथा दूसरे को सांस्कृतिक उन्नति का माध्यम समझा जा सकता है। प्रगतिशील जीवन दोनों के समन्वय एवं सुविकसित होने पर बनता है।

ऋषि श्रेष्ठ कात्यायन यहाँ बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि कुसंस्कारों का बोझ अपने सिर पर लिए नर-पशु के रूप में जन्मे अनगढ़ मनुष्य के लिए सुरदुर्लभ मानव योनि में जो बहुमूल्य अवसर स्वयं के उत्थान हेतु मिला है, उसे गँवाया नहीं जाना चाहिए। पशु स्तर त्यागकर मानवी गरिमा में प्रवेश करना ही प्रकारांतर से देव-संस्कृति है। शब्दार्थ एवं भावार्थ दोनों ही रूप में इसका आशय है ऐसी विद्या जो पेट प्रजनन तक सीमाबद्ध रखने वाली पशु-प्रवृत्तियों का परित्याग एवं देवत्व को अंतराल में उतारने, उत्कृष्ट आदर्शवादित को जीवन में समाविष्ट करने का सर्वांगपूर्ण शिक्षण दे। कायाकल्प करने के कारण ही इसे अमृत कहा गया है।

नाञ्जसाऽभ्येति चैषा तु शिक्षा यत्नेन मानवैः।

शिक्षणीया भवत्येषा विद्या प्रोक्ता मनीषिभिः ॥ २५ ॥

संबद्धा सुविधाभिस्तु साफल्येन च या तु सा।

क्षेत्रस्य भौतिकस्यात्र शिक्षा प्रोक्ता मनीषिभिः ॥ २६ ॥

शिक्षाऽप्यस्ति च सा नूनमनिवार्या तथाऽपि तु।

अपूर्णेव तथैकांगं विना विद्या - समन्वयात् ॥ २७ ॥

टीका—यह अनायास नहीं, अति प्रयत्नपूर्वक सीखनी और सिखानी पड़ती है। यही विद्या है शिक्षा उसे कहते हैं, जो भौतिक क्षेत्र की सुविधा, सफलता से संबंधित है। शिक्षा

भी आवश्यक तो है पर विद्या का समन्वय हुए बिना वह अपूर्ण एवं एकांगी ही रहती है ॥ २५-२७ ॥

विद्या एवं शिक्षा का युग्म है। शिक्षा बाहर से थोपी जा सकती है एवं वह लौकिक प्रगति में सहायक होती है, किंतु विद्या को बाहर से आरोपित नहीं किया जा सकता। बिना अंतः की सुसंस्कारिता के अनगढ़ व्यक्ति को दी गई शिक्षा तो बंदर के हाथ तलवार की तरह सिद्ध होती है। विद्या के लिए मनुष्य को स्वयं प्रयास करना पड़ता है, प्रेरणा स्रोत कोई भी बन सकता है। वातावरण, शिक्षक, अभिभावक, मित्र अथवा हितैषीगण। विद्या अर्जन एक प्रकार की साधना है, अंतक्षेत्र का प्रचंड पुरुषार्थ है, जिसे संपादित किए बिना मानव जीवन की हर उपलब्धि व्यर्थ है।

ज्ञानविज्ञानयोर्योगः पन्थानं प्रगतेः सदा।

सार्वत्रिक्याः प्रशस्तं स विदधाति न संशयः ॥ २८ ॥

शरीरयात्रासौविध्य - संग्रहः क्रियते यथा ।

तथैवात्मिकप्राखर्यप्राप्यते यततामपि ॥ २९ ॥

विना तेन नरस्तिष्ठेन्नरवानररूपकः ।

नरपामररूपो वा हेयप्रकृतिकारणात् ॥ ३० ॥

अविकासस्थितस्तिष्ठेदसंतुष्टस्तिरस्कृतः ।

स्वास्थ्यशिक्षा - साधनानां दृष्ट्या त्राससहश्च सः ॥ ३१ ॥

टीका—ज्ञान और विज्ञान का समन्वय ही सर्वतोन्मुखी प्रगति का पथ-प्रशस्त करता है। इसलिए शरीर यात्रा की सुविधाएँ जुटाने की तरह ही आत्मिक प्रखरता के लिए भी प्रयत्न होना चाहिए। उसके बिना मनुष्य को नर-वानर या नर-पामर बनकर रहना पड़ता है, हेय आदतों के कारण पिछड़ेपन के अतिरिक्त स्वास्थ्य तथा साधनों की दृष्टि से भी त्रास सहता है ॥ २८-३१ ॥

सार्थकं जन्मानुष्यं कर्तुमावश्यकं मतम्।

सुसंस्कारत्वमत्रैतद् व्यर्थं जन्मान्यथानृणाम् ॥ ३२ ॥

तस्योपलब्धेरैषैव विद्यापद्धतिरुत्तमा ।

निश्चिताऽप्यनुभूता च शिक्षाविद्यासुसंगमः ॥ ३३ ॥

महत्त्वपूर्णो मंतव्यो नरैः सर्वत्र सर्वदा।

नोचेन स सदाचारं व्यवहर्तुं क्षमो भवेत् ॥ ३४ ॥

टीका—मनुष्य जन्म को सार्थक करने के लिए सुसंस्कारिता का संपादन नितांत आवश्यक माना गया है। विद्या उसी को उपलब्ध कराने की, सुनिश्चित एवं अनुभूत पद्धति है। अस्तु शिक्षा के साथ विद्या के समावेश का महत्त्व सर्वत्र समझा जाना चाहिए नहीं तो वह दैनिक जीवन में सदाचार का व्यवहार नहीं कर पाएगा ॥ ३२-३४ ॥

मनुष्यों व पशुओं में आकृति भेद होते हुए भी अनेकों में प्रकृति एक-सी पाई जाती है। वनमानुष देखे तो नहीं जाते, किंतु उस मनोभूमि वाले नर-वानरों की कोई कमी नहीं। ऐसे

भी अनेकों हैं, जो निरुद्देश्य जीवन जीते या मर्यादा को तब तक ही मानते हैं, जब तक कि उन पर अंकुश रहे। मनुष्य को जन्म मिलने के साथ-साथ विधाता ने मानव आकृति भी दी है। किंतु प्रकृति उसे अपने पुरुषार्थ से स्वयं अर्जित करनी होती है। खदान से निकला लोहा मिट्टी मिला होता है। उसे भट्टी में गलाना पड़ता है। जब मिला हुआ अंश जलकर नष्ट हो जाता है, तो वही अनगढ़ लोहा शुद्ध लोहे के रूप में सामने आता है। तपाने पर एवं साँचे में ढलाई करने पर भिन्न-भिन्न पात्रों उपकरणों के रूप में सामने आता है। लगभग यही तथ्य मनुष्य पर भी लागू होता है।

जीवन निर्वाह के लिए साधन जुटाना है। पर यह पर्याप्त नहीं है। अंतरंग के विकास के बिना जीवन यात्रा अधूरी है। यदि उसने बहिरंग जीवन में काम आने वाले साधन जुटा भी लिए तो वे आत्मिक प्रगति के अभाव में निरुद्देश्य ही पड़े रहेंगे, साधनों का अंबार होते हुए भी व्यक्ति अनगढ़ ही बना रहेगा, कोई लाभ उसका उठा नहीं पाएगा।

यहाँ ऋषि ज्ञान व विज्ञान के समन्वय की जीवन में महत्ता प्रतिपादित करते हुए व्यक्ति के सांस्कृतिक विकास के लिए इसे अनिवार्य बताते हैं। ज्ञान वह जो अंतः की समृद्धि बढ़ाए गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कार करे। विज्ञान वह जो बहिर्मुखी व्यावहारिक जानकारी मनुष्य को दे। दोनों एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। ज्ञान संस्कृति का जन्मदाता है, तो विज्ञान सभ्यता का। संस्कृति व सभ्यता एक दूसरे के साथ चलने पर ही मनुष्य को सर्वांगपूर्ण विकास के पथ पर बढ़ाते हैं। अतः विद्या एवं शिक्षा दोनों को, ऊपर बताई गई दो आवश्यकताओं को दृष्टिगत रख समंवित्र रूप में प्रारंभ से ही दिए जाने की व्यवस्था बनाई जानी चाहिए। मनुष्य स्वेच्छाचारिता न बरतकर अनुशासित रहे, सदाचारी बने, इसके लिए यह समन्वय अत्यंत अनिवार्य है।

आगतेषु गुरुष्वत्र महर्षिः स ऋतंभरः।

उत्थाय कृतवान् व्यक्तां जिज्ञासां नम्रभावतः ॥ ३५ ॥

टीका—आगतुक अध्यापकों में से महामनीषी महर्षि ऋतंभर ने उठकर विनम्रतापूर्वक जिज्ञासा व्यक्त की ॥ ३५ ॥

ऋतंभर उवाच

संस्कारिणीमिमां विद्यां विधातुं मर्त्यजीवने।

समाविष्टां विधिर्वाच्यो बोधबोधनयोः प्रभो ॥ ३६ ॥

टीका—ऋतंभर ने कहा, भगवन् सुसंस्कारी विद्या को मनुष्य जीवन में समाविष्ट करने की विधि व्यवस्था समझाएँ। उसे किस प्रकार सीखा और सिखाया जाना चाहिए ॥ ३६ ॥

कात्यायन उवाच

भद्र एष शुभारंभः पितृभ्यां मर्त्यजीवने।

निजे कृत्वा परिष्कारं विधातव्यो यथा च तत् ॥ ३७ ॥

४.४ प्रज्ञोपनिषद्

बीजं भवति चोत्पत्तिः क्षुपाणां तादृशां भवेत् ।
दायित्वं पितरौ बुद्ध्वा सच्चारित्र्यं च चिंतनम् ॥ ३८ ॥
उच्चस्तरं तु गृहीयुर्भूत्वा कामातुरास्तु ते ।
अनीप्सितां न चोत्पन्नां कुर्युः संततिमात्मनः ॥ ३९ ॥

टीका—कात्यायन बोले भद्रजनो यह शुभारंभ माता-पिता को अपनी जीवनचर्या में सुधार, परिष्कार करके आरंभ करना चाहिए। जैसा बीज होता है, वैसी ही पौध उगती है। इसलिए जनक-जननी अपने महान् उत्तरदायित्व को समझें और सुयोग्य संतान के लिए उच्चस्तरीय चिंतन और चरित्र अपनाएँ। कामातुर होकर अवांछनीय संतान उत्पन्न न करें ॥ ३७-३९ ॥

कौटिल्य बबूल का बीज बोकर आम का वृक्ष पनपने की आशा नहीं की जाती। खाद, पानी, निराई, गुड़ाई जितनी महत्त्वपूर्ण है, उससे भी अधिक यह कि बीज श्रेष्ठ है या नहीं। किसान इसलिए अपनी फसल बोने से पहले श्रेष्ठ बीज ढूँढ़ते हैं, तदुपरांत अन्य व्यवस्थाएँ करते हैं। माता-पिता की, शिशु निर्माण में किसान जैसी ही भूमिका है। जितना श्रेष्ठ चिंतन व चरित्र का स्तर माता-पिता का होगा, उतनी ही उच्चस्तरीय सुसंतति होगी। एक नया जीवन संसार में प्रवेश ले, उसके पूर्व माता-पिता स्वयं अपनी मनोभूमि बनाएँ, संस्कारों को पोषण दें, तो ही ऐसी श्रेष्ठ संतान की अपेक्षा की जा सकती है। जो विद्यार्जन हेतु सक्षम आत्मबल जुटा सके।

अबोधाः शिशवो मातुरुदरावधितः स्वयं ।
अभ्यस्तास्ते कुटुंबस्य ज्ञेयं वातावृतौ बहु ॥ ४० ॥
शिशूनां सप्तवर्षाणां प्रायो व्यक्तित्वनिर्मितिः ।
पूर्णेव जायते चास्यामवधौ पारिवारिकी ॥ ४१ ॥
वातावृतिः शिशून् कृत्वा पूर्णतस्तु प्रभाविताम् ।
सुनिश्चिते क्रमे चैतान् परिवर्तयति स्वयम् ॥ ४२ ॥

टीका—अबोध शिशु माता के उदर से लेकर परिवार के वातावरण में बहुत कुछ सीख लेते हैं। सात वर्ष की आयु तक बच्चों का व्यक्तित्व बहुत बड़ी मात्रा में विनिर्मित हो चुका है। इस अवधि में पारिवारिक वातावरण का ही भला-बुरा प्रभाव बालकों को सुनिश्चित ढाँचे में ढालता है ॥ ४०-४२ ॥

विद्या वह उच्चस्तरीय संस्कारयुक्त मार्गदर्शन है, जिसका शुभारंभ गर्भावस्था से ही हो जाता है। माता की गर्भकाल की अवधि में जैसी मनःस्थिति होती है, जैसा चिंतन प्रवाह चलता है, बालक वैसा ही ढलता है। जन्म के तुरंत बाद से ही वह शिक्षण प्रत्यक्ष रूप से चल पड़ता है। आनुवांशिकता से गुण संपदा के संतान में समाविष्ट होने की बात जितनी सही है, उतनी ही यह भी कि वातावरण में, स्वयं के जीवन क्रम में उन संस्कारों का समावेश किया गया अथवा नहीं, जो माता-पिता अपनी संतानों में चाहते हैं। एक दार्शनिक का वह कथन शत-प्रतिशत सही है, जिसमें उन्होंने ५ वर्ष की अवधि के

बाद शिक्षण हेतु अपने बच्चे को लेकर आने वाली एक माता को कहा था कि बच्चे को विद्या देने की बहुमूल्य अवधि ५ वर्ष तो वह गँवा चुकी। वस्तुतः सुसंतति के निर्धारण हेतु माता-पिता का स्थान भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि जन्मोपरांत निर्धारित अवधि में गुरुकुल पहुँचने पर शिक्षक का।

अतः पश्चाद् विनिर्मान्ति व्यक्तित्वं गुरवश्च ते ।
नोपदेशेन पाठ्यैर्वा विषयैः संभवेदिदम् ॥ ४३ ॥
गुरुकुलेषु निवासस्याऽध्यापनस्याऽपि च द्वयोः ।
कार्यं सहैव सम्पन्नं जायते तेन तत्र च ॥ ४४ ॥
ग्रंथाऽध्यापनमात्रं न जायतेऽपितु विद्यते ।
प्रबंधस्तत्र शिक्षाया व्यवहारस्य शोभनः ॥ ४५ ॥
सुयोग्य - परिवारस्य भूमिकां निर्वहन्ति ये ।
यत्र वातावृतिः स्फूर्तिदाऽस्ति विद्यालयास्तु ते ॥ ४६ ॥

टीका—इसके उपरांत गुरुजन बालकों का व्यक्तित्व बनाते हैं। यह कार्य मात्र उपदेश या पाठ्यक्रम के सहारे संपन्न नहीं होता। गुरुकुलों में निवास और अध्ययन के दोनों ही कार्य साथ-साथ चलते हैं। इसलिए वहाँ पुस्तक पढ़ाने का ही नहीं, व्यवहार सिखाने का भी प्रबंध किया जाता है। सुयोग्य परिवार की भूमिका जो निभा सकते हैं, जहाँ प्रेरणाप्रद वातावरण होता है, वस्तुतः वे ही विद्यालय कहलाने के अधिकारी हैं ॥ ४३-४६ ॥

कुसंस्कारयुते वातावरणे याति विकृतिम् ।
व्यक्तित्वं बालाकानां सा शिक्षा व्यर्थत्वमेति च ॥ ४७ ॥
भौतिकी वर्तते चाल्पं महत्त्वं ज्ञानजं परम् ।
प्रतिभाया महत्त्वेन युतायास्त्वधिकं मतम् ॥ ४८ ॥

टीका—कुसंस्कारी वातावरण में बालकों के व्यक्तित्व उलटे बिगड़ते हैं। शिक्षा के रूप में जो भौतिक जानकारी प्राप्त हुई थी, वह भी निरर्थक चली जाती है। जानकारी का क्रम और संस्कारवान् प्रतिभा का महत्त्व अधिक है ॥ ४७-४८ ॥

माता-पिता बाल्याकाल के प्रारंभिक वर्षों में बालक के विकास हेतु उत्तरदायी हैं, तो गुरु-शिक्षक उनके उत्तरकाल के लिए। यही वह अवधि है, जिनमें मस्तिष्क की पकड़ अत्यंत पैनी होती है। बालक गीली मिट्टी के समान होते हैं। इस समय उन्हें जैसे साँचे में ढाला जाएगा, वैसे ही वे बनेंगे। उनका व्यावहारिक शिक्षण मानसिक पोषण जैसा होगा, वैसा ही उनका विकास होगा। वस्तुतः गुरुकुल भी एक परिवार संस्था ही है, गुरुजन अभिभावक हैं एवं अन्य साथी भाई-बहिन के समान। जो मर्यादाएँ परिवार संस्था पर लागू होती हैं, उन्हीं का परिपालन गुरुकुलों में भी होना चाहिए। पारिवारिक स्नेह, यथोचित सुधार हेतु अंकुश, संरक्षण मार्गदर्शन

पाकर व्यक्तित्व समग्र रूप में निखर कर आता एवं श्रेष्ठ नागरिक को जन्म देता है। यदि गुरुकुल मात्र लौकिक जानकारी तक ही सीमित रहें, वातावरण निर्माण की ओर वहाँ ध्यान न दिया जा रहा हो, तो बालकों में संस्कार नहीं विकसित हो पाते।

वातावृतिः करोत्येतत्कार्यं संपन्नमञ्जसा ।
मात्रमध्यापकस्त्वेतन् कर्तुं प्रभवेदिह ॥ ४९ ॥
शिक्षणेन महत्कार्यं परमध्यापको भवेत् ।
स्वभावेन चरित्रेण व्यवहारेण चोच्चगः ॥ ५० ॥
काले सोऽध्यापनस्यात्र पाठयत्येव नो परम् ।
अभिभावकदायित्वं तदा निर्वहति स्वयम् ॥ ५१ ॥
दायित्वमेतद् यो यावन्निर्वहेद् वस्तुतस्तु सः ।
अधिकारी गुरुत्वस्य वर्तते धन्यजीवनः ॥ ५२ ॥

टीका—यह कार्य विद्यालय का वातावरण ही सरलता से संपन्न करता है। अकेला अध्यापक मात्र प्रशिक्षण के सहारे इतना महान् कार्य संपन्न नहीं कर सकता। अध्यापक को अपना स्वभाव, चरित्र और व्यवहार भी उच्चस्तरीय रखना चाहिए, क्योंकि अध्यापन काल में वह मात्र पढ़ाता ही नहीं, अभिभावकों और परिवार वालों की भी जिम्मेदारी निभाता है इसी जिम्मेदारी को जो, जितनी अच्छी तरह निभा सके, वही सच्चे अर्थों में गुरुजन कहलाने का अधिकारी है तथा उसका जीवन धन्य है ॥ ४९-५२ ॥

वर्तमान मान्यता विद्यालयों की मात्र इतनी है कि पुस्तकों से लदकर वहाँ तक जाया जाए, समयक्षेप करके बच्चों के शाम को वापस लौटते ही अध्यापक एवं अभिभावक अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझ लें। दोनों के ही रुचि न लेने एवं अभीष्ट वातावरण न बनने के कारण ही शिक्षा का स्तर नित्य गिरता जाता है। लौकिक शिक्षा की पदवी प्राप्त छात्रों की संख्या नित्य बढ़ती जा रही है। कहीं श्रेष्ठ विद्यार्थी नाम भर को दिखाई देते हैं। जो हैं, वे स्वयं के पुरुषार्थ से अथवा अपनी जन्मजात विलक्षण प्रतिभा के बलबूते ऊँचे उठे होते हैं।

यहाँ ऋषि श्रेष्ठ कात्यायन संकेत करते हैं कि छात्र निर्माण हेतु जितनी बड़ी जिम्मेदारी अभिभावकों की, एवं श्रेष्ठ वातावरण की है, उच्चस्तरीय शिक्षण की है, उससे भी अधिक स्वयं शिक्षक की है। उन्हें व्यक्तिगत जीवन में श्रेष्ठ चरित्र वाला एवं मातृ हृदय संपन्न होना चाहिए। पढ़ाना, विद्या को छात्र के अंदर तक उतार देना जितना जरूरी है, उतना ही अपने चरित्र से शिक्षण देना भी। शिक्षक का यह नैतिक दायित्व है कि वे पहले स्वयं वैसा बनें, जैसा वह छात्रों से अपेक्षा रखते हैं।

ज्ञानात्पुस्तकसंबद्धादतिरिक्तं च कौशलम्।

व्यवहारसमुद्भूतं स्वभावः श्रेष्ठतां गतः ॥ ५३ ॥
तयोर्निर्मितये भाव्यं वातावृत्याऽनुकूलया ।
निर्देशेन तथाऽनेकैः साधनैरपि संततम् ॥ ५४ ॥
विशेषताभिरेताभिर्युता शिक्षणपद्धतिः ।
यत्रास्ते तत्र ये बाला पुष्टिं यांति पठन्त्यपि ॥ ५५ ॥
प्रगतिं सार्वभौमां ते सन्ततं यांति च क्रमात् ।
जीवने चाऽन्यमर्त्यानां कृते प्रामाणिकाश्च ते ॥ ५६ ॥
परिवाराद् भूमिका सा प्रारब्धा सन्ततं चलेत् ।
विद्यालस्य कैशोर्यं यावदत्येति बालकः ॥ ५७ ॥
प्रौढतां परिपक्वत्वं गृह्णात्येव च नो यदा ।
तदैव ज्ञेयं बालस्य जाता निर्मितिरुत्तमा ॥ ५८ ॥

टीका—पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त व्यवहार, कौशल और श्रेष्ठता संपन्न स्वभाव बनाने के लिए तदनुरूप वातावरण, मार्गदर्शन एवं साधन भी होने चाहिए। ऐसी विशेषताओं से युक्त शिक्षण पद्धति जहाँ है, वहाँ पढ़ने, पलने और बढ़ने वाले बालक सर्वतोन्मुखी प्रगति करते हैं तथा जीवन में अन्य लोगों के लिए प्रमाण बनते हैं। अस्तु घर-परिवार से विद्यालय की भूमिका आरंभ होकर तब तक चलती रहनी चाहिए, जब तक कच्ची आयु पार करके प्रौढता परिपक्वता की भूमिका न निभाने लगे। जब ऐसा हो जाए तब समझना चाहिए कि बालक का निर्माण हो गया ॥ ५३-५८ ॥

जीवन बहुरंगी है। यहाँ तरह-तरह की परिस्थितियों से, भिन्न-भिन्न मनःस्थिति के व्यक्तियों से निरंतर पाला पड़ता रहता है। जीवन संग्राम में सफल होने के लिए व्यक्ति को व्यवहार कुशल होना अत्यंत अनिवार्य है। इस विधा का शिक्षण किसी विद्यालय में अलग से नहीं दिया जाता, अपितु समग्र शिक्षण पद्धति ही ऐसी होती है, जिससे उससे जुड़ने वाले छात्र सर्वांगपूर्ण विकास कर सकें। शिक्षण तभी समग्र माना जा सकता है, जब बच्चे को परिवार संस्था से लेकर गुरुकुल तक निरंतर इसी प्रकार मार्गदर्शन मिलता रहे। एक बार मनःस्थिति के साँचे में ढलने पर वह जीवन का एक अंग बन जाती है। तब यह प्रयास पुरुषार्थ सफल हुआ माना जा सकता है।

भद्रा नरेषु संस्कारभावनायास्तु जागृतेः ।
दायित्वं बालकेष्वत्र जातेष्वपि युवस्वपि ॥ ५९ ॥
समाप्तिं याति नो देवसंस्कृतिः प्राक् तु जन्मनः ।
पश्चादपि च मृत्योस्तां कर्तुं संस्कारसंयुताम् ॥ ६० ॥
मानवीं चेतनां दिव्यमकार्षीत्क्रममुत्तमम् ।
नोद्गच्छेत्पशुता मर्त्येऽनिवार्यं चाङ्गमत्र तु ॥ ६१ ॥
इदं तु सभ्यता स्थूलनियमाश्रितमप्यलम् ।
सिद्ध्यतीह ततोऽग्रे च मनुष्ये बलिदानिनाम् ॥ ६२ ॥
सतां समाजसंस्कारकर्तृणां चित्तभूमिकाम्।

४.६ प्रज्ञोपनिषद्

कर्तुं विकसितां तं च निर्मातुमृषिमुत्तमम् ॥ ६३ ॥

मनीषिणां महामर्त्यं देवदूतं समिष्यते।

संस्कृतेरिदमेवास्ति कार्यं मंगलदं नृणाम् ॥ ६४ ॥

टीका—हे भद्रजनो मनुष्य में सुसंस्कारिता जगाने का उत्तरदायित्व बालकों के युवा हो जाने पर ही समाप्त हो जाता है। देवसंस्कृति ने जन्म के पूर्व से मृत्यु के पश्चात् तक मानव चेतना को संस्कारित करने का क्रम बनाया है। मनुष्य में पशुता के कुसंस्कार न उभरने देना उसका एक अनिवार्य पक्ष है। यह तो सभ्यता के स्थूल नियमों के माध्यम से भी किसी सीमा तक सध जाता है, किंतु इसे आगे मनुष्य में संत, सुधारक, शहीद की मनोभूमि विकसित करना उसे मनीषी, ऋषि, महामानव, देवदूत स्तर तक विकसित करना भी अभीष्ट है। यह कार्य संस्कृति का है ॥ ५९-६४ ॥

मात्र विद्यार्जन कर विद्वान बना देना, पदवी दिलाकर वैभव संपन्न बना देना ही शिक्षा का लक्ष्य नहीं होता। देव संस्कृति के इस महत्त्वपूर्ण प्रसंग की परिधि अत्यंत विशाल है। बालक में जगाए गए संस्कारों की परिणति आगे चलकर और भी महान् हो, यह उद्देश्य ऋषिगणों का, शिक्षण प्रक्रिया के मूल में रहा है। गर्भावस्था से ही संस्कारों के पोषण की प्रक्रिया आरंभ होती एवं मृत्योपरांत तक चलती रहती है। यह देव संस्कृति के विभिन्न उपक्रमों के माध्यम से संपन्न होता है। व्यक्ति न बिगड़े, अपनी पूर्व योनियों के चिर संचित संस्कारों की ओर पुनः उन्मुख न हो यह ठीक है, किंतु यह भी जरूरी है कि वह और भी श्रेष्ठ बने।

विज्ञानं भौतिकं लोके पदार्थस्य तदोजसः ।

उपयोगं प्रशास्येव नियंत्रणमथापि च ॥ ६५ ॥

आश्रित्याध्यात्मविज्ञानमंतश्चैतन्यं तथा ।

महाचैतन्यं नूनं लभ्यतेऽत्रानुशासनम् ॥ ६६ ॥

नियंत्रिता पदार्थाः स्युरंतश्चेतनया तथा ।

जीवांतश्चेतना स्याच्च परचैतन्य संयुता ॥ ६७ ॥

विकासस्य सुखस्याथ शांतेः श्रेष्ठः क्रमस्त्वयम् ।

देवसंस्कृतिरेनं च सिद्धान्तं सुप्रतिष्ठितम् ॥ ६८ ॥

नरस्य चिंतने कर्तुं चरित्रे सफला ह्यभूत् ।

लोककल्याणमत्यर्थमस्मादेव ह्यभूत्ततः ॥ ६९ ॥

अतो विश्वस्तरेणेयं श्रेष्ठां याता च मान्यताम् ।

निर्माति मानवं या तु देवं वै देवसंस्कृतिः ॥ ७० ॥

टीका—भौतिक विज्ञान पदार्थ एवं पदार्थगत ऊर्जा के नियंत्रण और उपयोग का मार्ग प्रशस्त करता है। अध्यात्म विज्ञान के सहारे अंतःचेतना तथा महत् चेतना के अनुशासन हस्तगत होते हैं। पदार्थ पर अंतःचेतना का नियंत्रण रहे, अंतःचेतना महत् चेतना से युक्त रहे। विकास और सुख-शांति का श्रेष्ठ क्रम यही है। यह महान सिद्धान्त, देव संस्कृति ने

जन-जन के चिंतन और चरित्र में उतार देने में सफलता पाई है। इसी से महान् लोक कल्याण हुआ है। इसीलिए इसे विश्वस्तर पर श्रेष्ठ संस्कृति के रूप में मान्यता मिली है। यह मानव को देवता बनाती है, अतः देव संस्कृति कहलाती है ॥ ६५-७० ॥

भारतीय संस्कृति देव संस्कृति ने चिर पुरातनकाल से मानवता को अनेकानेक अनुदान दिए हैं। अपने स्वरूप श्रेष्ठ उद्देश्यों, सार्वभौम रूप के कारण इसे विश्व संस्कृति का पर्याय माना जा सकता है। सभ्यता इसी के गर्भ से पनपी जिससे ज्ञान-विज्ञान की अनेकानेक विधाओं ने जन्म लिया एवं सारे विश्व को उन उपलब्धियों से लाभांवित किया। किसी देश, जाति, धर्म संप्रदाय वर्ग, समाज विशेष तक सीमित न रहकर यह संपूर्ण मानव जाति के विकास एवं कल्याण का पथ प्रशस्त करती रही है। इसका मूल आधार है यहाँ की ऋषि परंपरा। ऋषियों की आध्यात्मिक एवं वैचारिक संपदा अब भी परोक्ष रूप से वातावरण में गुंजित पाई जा सकती है।

भौतिकी और आत्मिकी की परस्पर अन्योन्याश्रयता का प्रतिपादन देव संस्कृति की मूलभूत विशेषता है। पदार्थ विज्ञान, भौतिकी स्थूल उपादानों से संबंधित है, जबकि चेतना विज्ञान, आत्मिकी, परोक्ष चेतन हलचलों से संबंधित है। पदार्थ में गति है तो चेतन में गति है। गति के पीछे कोई उद्देश्य न हो, वह गति से प्रज्ञा-विवेक अंतर्दृष्टि समंवित न हो तो एक निरर्थक परिभ्रमण की खिलवाड़ ही चारों ओर नजर आएगी। साधनों के बिना गति, अंतश्चेतना भी अधूरी है। भौतिकी का अनुदान सुविधा है तो आत्मिकी का वरदान है प्रतिभा। दोनों की अपनी-अपनी उपयोगिता है, किंतु इन्हें समंवित रूप से प्रस्तुत करना संस्कृति का उत्तरदायित्व है। देव संस्कृति ने इन्हीं सूत्रों को जनसुलभ बनाकर जन-जन के मनो तक पहुँचाया है। इसी कारण इसके अनुयायी बाह्य सुख साधनों के उपभोग तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु अंतः के पुरुषार्थ में सतत् संलग्न रहें। धर्म संस्कृति की प्राण चेतना का जीवंत रहना ही इसके अनुयाइयों की चरित्र निष्ठा के मूल में रही है।

विकसंति महात्मानः संस्कृतिश्चापि कुत्रचित् ।

क्षेत्रे विशेष एवात्र परं बद्धा न सीम्नि ते ॥ ७१ ॥

विकासं भारते याता देवसंस्कृतिरित्यहो ।

सत्यं परंतु सा विश्वसंस्कृतौ चिंतिता बुधैः ॥ ७२ ॥

गौरवं चेदमेवेयं गता काले महत्तरे ।

तदा विश्वं सुखं शांतिमन्वभूच्च निरंतरम् ॥ ७३ ॥

टीका—संत और संस्कृति किसी क्षेत्र में विकसित तो होते हैं, परंतु उन्हें किसी सीमा बंधन में बाँधा नहीं जा

सकता। देव संस्कृति भारतभूमि में विकसित हुई, यह सत्य है, किंतु वह वस्तुतः विश्वसंस्कृति के रूप में मनीषियों द्वारा गढ़ी गई थी और यही गौरव उसे दीर्घकाल तक प्राप्त भी रहा। उस समय विश्व ने महान सुख-शांति अनुभव की ॥ ७१-७३ ॥

यह सही है कि कोई भी विभूति अथवा विशिष्टता स्थान विशेष से जुड़ी होने के कारण वही नाम ले लेती है, पर वह उस सीमा में आबद्ध संकीर्ण बनी नहीं कही जा सकती। संत सार्वभौम होते हैं, सारी मानव जाति का कल्याण उनका मूल उद्देश्य होता है। भारत को सनातन काल से विश्व गुरु कहलाने का, वसुधा का मुकुटमणि कहे जाने का श्रेय इसलिए मिला कि यहाँ के ऋषियों-चिंतकों ने सदैव समग्र वसुधा के उत्कर्ष को ध्यान में रखते हुए अपनी गतिविधियाँ चलाई। उनके प्रतिपादन सार्वभौम हैं। वे विश्व एकता के लिए सारी वसुधा पर भ्रमण करते रहे हैं। उन्होंने स्नेह के बंधन में सारी मानव जाति को सूत्रबद्ध करने का प्रयास किया एवं इसमें वे सफल रहे। व्यास, वाल्मीकि, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, रामानुज, कुमारजीव, विवेकानंद, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, नानक, कबीर एवं महात्मा गाँधी अरविंद जैसी विभूतियों ने संस्कृति की इस प्रगति यात्रा को आगे बढ़ाया है। भारतीय संस्कृति उपयोगिता की दृष्टि से विश्वधर्म, विश्वसंस्कृति के रूप में ही आरंभ से गठित की गई, इसलिए इतनी अधिक विविधताओं का समावेश इसमें मिलता है।

आसुरीषु सदा शक्तिष्वलमाकर्षणं जनैः।

अन्वभावि भवत्येवानिष्टकारी समं तु तत् ॥ ७४ ॥

बाह्याकर्षणमेतासु देवशक्तिषु तादृशम्।

जायते न परंत्वतः सौन्दर्यं क्षमता च सा ॥ ७५ ॥

कल्याणकारिणी नूनमद्वितीयैव विद्यते।

देवसंस्कृतिरित्यर्थं मानवं तत्प्रपञ्चतः ॥ ७६ ॥

संरक्ष्य च सुरौपम्य विकासप्रेरणां तथा।

विधिं देवोपमं लोके यच्छतीह निरंतरम् ॥ ७७ ॥

टीका—आसुरी शक्तियों में आकर्षण विशेष होता है, परंतु वे अनिष्टकारी होती हैं। देवशक्तियों में बाह्याकर्षण उतना नहीं होता, परंतु आंतरिक सुंदरता और कल्याणकारी क्षमता अद्वितीय होती है। देवसंस्कृति मानवमात्र को आसुरी प्रपंच से बचाकर, देवोपम विकास की प्रेरणा और विधि-व्यवस्था प्रदान करती है ॥ ७४-७७ ॥

आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता भोग प्रधान है। अधिक उपार्जन एवं उसका उपभोग सुख-सुविधाएँ इत्यादि ही उनका लक्ष्य बनकर रह गया है। इससे समृद्धि तो बढ़ी है, किंतु सबसे बड़ी हानि यह हुई है कि उससे सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास हुआ है। नैतिकता के प्रति पदार्थ परक दृष्टिकोण होने

से न केवल दुराचरण बढ़ा है अपितु पारस्परिक संबंधों में रूक्षता संकीर्ण स्वार्थपरता एवं स्वच्छंद उपभोगवाद ने मनश्चेतना पर अपना आधिपत्य जमा लिया है। आदर्शवादिता कहने-सुनने की चीज रह गई है। यह संस्कृति की अवमानना की ही परिणति है। देवशक्तियों को पोषण देने वाली संस्कृति ही उस महाविनाश को बचा सकती है, जो आधुनिकता का भविष्यत् कहा जा सकता है।

देवसंस्कृति का इतिहास बताता है कि अंतः के विकास एवं मानवी गरिमा की स्थापना हेतु इसकी अवधारणाओं ने अति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

देव देने वाले को और दैत्य लेने वाले को कहते हैं। जिसने संसार में लिया कम और दिया अधिक है वह देव है। जो लेता अधिक और देता कम है उसकी गणना दैत्यों में की जाएगी। संक्षेप में स्वार्थी को दैत्य और परमार्थी को देव कहते हैं। देवों को मान दिया जाता है और दैत्यों के लिए सहज ही घृणा उठती है। यह नितांत स्वाभाविक है। स्थिति को देखते हुए लोक मानस में इस प्रकार की प्रतिक्रिया उठाना उचित ही है। व्यक्ति का चिंतन और कार्य जिस स्तर का है उसी के अनुरूप तो उसे श्रेय दिया या हेय समझा जा सकता है।

तत्त्वदर्शन में मानव के लिए महानात्मा, देवात्मा और परमात्मा बनने की दिशा को ही परम लक्ष्य माना गया है। इसी से इस जन्म की सार्थकता है। स्वर्ग मुक्ति, सिद्धि, आत्म साक्षात्कार प्रभु प्राप्ति जैसे दिव्य लाभ मात्र परमार्थ पथ पर चलते हुए देव संस्कृति को अपनाते हुए ही प्राप्त किए जा सकते हैं। सांसारिक यश, गौरव, सम्मान, सहयोग जैसे उच्चस्तरीय लाभ इसी मार्ग पर चलने से मिलते हैं।

श्रेष्ठ मान्यताओं पर आधारित देव संस्कृति के सारे सिद्धांत अपने आप में इतने सही एवं युगानुकूल हैं, कि आज भी उन्हें परीक्षित कर ऊँचा उठ सकना देवमानव की स्थिति में जा खड़ा होना संभव है। इसका एकमात्र कारण यह है कि ऋषियों ने जो अध्यात्म सिद्धांत निर्धारित किए उन्हें अपनी बहुमूल्य मानवी काया रूपी प्रयोगशाला में सत्यापित भी किया। आत्मा, परमात्मा, कर्मफल, मरणोत्तर जीवन संबंधी आप्त मान्यताओं का भारतीय दर्शन के मूलभूत सिद्धांतों का इसलिए युगों-युगों से सम्मान किया जाता रहा है। उनके आधार पर जीवन दर्शन बना है व भारत निवासी उन पर चलकर प्रगति पथ पर आगे बढ़े हैं। जब भी इन मान्यताओं को झुठलाया गया, उस समुदाय को प्रतिकूलताओं ने घेरा है एवं उसे अंधकार भरे समय से गुजरना पड़ा है।

संदेशवाहकाश्चास्याः स्व सदाचारतो जनान्।

प्रशिक्षितान् प्रकुर्वन्तः प्रेरितान् व्याचरन्भुवि ॥ ७८ ॥

४.८ प्रज्ञोपनिषद्

केवलं न मनुष्यास्ते प्राणिमात्रं तु सर्वदा।

अन्वभूवन् स्वतुल्यं च तेषामेषा मनःस्थितिः ॥ ७९ ॥

प्रचंडात्मीयताधारमाधृत्याभूत्फलान्वितः ।

उद्घोषो विश्वमाकर्तुं कुटुंबमिव वर्द्धितम् ॥ ८० ॥

टीका—देवसंस्कृति के महान् संदेशवाहक अपने-अपने आचरण से जन-जन को प्रेरणा प्रशिक्षण देते सारे भूमंडल पर विचरते रहे हैं। वे मनुष्यों को ही नहीं, प्राणिमात्र को ही आत्मवत् अनुभव करते रहे हैं, क्योंकि उनकी मनःस्थिति ही ऐसी थी। इस प्रचंड आत्मीयभाव के आधार पर ही सारे विश्व को एक कुटुंब के रूप में विकसित करने का उनका उद्घोष सफल होता जा रहा है ॥ ७८-८० ॥

वसुधैव कुटुंबकम् की भावना से प्रेरित होकर बहुजन हिताय की दृष्टि से यहाँ के निवासी समय-समय पर देश की सीमाओं को लाँघते हुए अपने ज्ञान-विज्ञान की संपत्ति को उन्मुक्त हाथों से बाँटने के लिए दूसरे देशों में भी पहुँचते रहे हैं। तब आज जैसे यातायात के सुविकसित साधन भी न थे। दुर्गम पहाड़ों, नदियों, रेगिस्तान, बीहड़ों की कष्टसाध्य यात्राएँ उनको पावन मनोरथ से डिगा नहीं पाती थी। वृहत्तर भारत की नींव उनके इन दुस्साहसी प्रयत्नों से ही पड़ी। कुमारजीव, कश्यप, मतंग, बुद्धयश तथा गुणवर्मन आदि बौद्ध भिक्षुओं ने प्राणों को हथेली पर रखकर पैदल चीन की यात्राएँ कीं। उनके भाषणों, उपदेशों से वहाँ के मनीषी इतने अधिक प्रभावित हुए कि उस भूमि की चरणरज मस्तक पर लगाने चल पड़े जिसने अमृत तुल्य तत्त्वज्ञान को जन्म दिया। फाह्यान, ह्वेनसांग, इत्सिंग आदि चीनी विद्वान भारत आए तथा वर्षों तक अपनी ज्ञान पिपासा शांत करते रहे जो अपने देशवासियों में बाँटने वापिस लौटे। मंगोलिया, साईबेरिया, कोरिया आदि में भी भारतीय विद्वानों के पहुँचने तथा संस्कृति के प्रचार का उल्लेख मिलता है।

कलिंग युद्ध के बाद अशोक का हृदय परिवर्तन हुआ। प्रायश्चित्त के लिए बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर धर्म के लिए न केवल स्वयं कार्य करना आरंभ किया, वरन् अपने पुत्र पुत्री को भी वैसे ही अनुकरण के लिए प्रेरित किया। श्रीलंका में उसने अपने पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा को प्रचारार्थ भेजा। गया से बोधिवृक्ष की एक शाखा लेकर उन्होंने लंका में आरोपित की। बौद्धधर्म के धार्मिक चिह्न, ग्रंथों एवं प्रासादों के रूप में जो लंका में दिखाई पड़ते हैं, वे महेंद्र संघमित्रा के प्रयासों के ही पुण्य प्रतिफल हैं। वर्मा का पुरातन नाम ब्रह्मदेश है, जिस पर भारतीय प्रभाव की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। बौद्ध भिक्षु यहाँ भी पहुँचे।

कंबोडिया, तीसरी से सातवीं शताब्दी तक हिंदू गणराज्य रहा। वहाँ के निवासियों का विश्वास है कि इस देश का नाम

भारत के ही एक ब्राह्मण ऋषि कौण्डिन्य के नाम पर पड़ा, जिसने यहाँ नाग कन्या से विवाह किया और अपना राज्य स्थापित किया। उनके बाद जयवर्मन, यशोवर्मन, सूर्यवर्मन आदि राजा हुए। यहाँ के प्रख्यात मंदिर हैं अंगकोर के। जिनकी दीवारों के पत्थरों पर रामायण के दृश्य खुदे हुए हैं। लाओस के कुछ मंदिरों में भी रामकथा के दृश्य देखे जा सकते हैं।

इंडोनेशिया यों तो वर्तमान मुस्लिम देश है। किंतु भारतीय संस्कृति की अमिट छाप इस पर आज भी है। इंडोनेशिया यूनानी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है भारतद्वीप। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि इसके द्वीप हैं। प्राचीनकाल में वे सभी भारत के अंग रहे थे। रक्त एवं संस्कृति दोनों ही दृष्टियों से वहाँ के निवासी भारतीयों से अविच्छिन्न रूप से जुड़े हैं। जावा के लोगों में विश्वास है कि भारत के पाराशर तथा व्यास ऋषि वहाँ गए थे तथा बस्तियाँ बसाई थीं। सैलेंड राजवंश द्वारा बरोबुदुर जैसे मंदिर वहाँ बनवाए गए, जिसमें बुद्ध की ४३२ मूर्तियाँ हैं। उन मूर्तियों पर गुप्तकला की भी स्पष्ट छाप है। मंदिर का बौद्ध स्तूप कलाकृति एवं सौंदर्य की दृष्टि से संसार भर में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। जावा के जोग, जकार्ता की रामलीला एवं नाटक संसार भर में प्रसिद्ध हैं। वे मूलतः राम कथानक पर आधारित होते हैं। मंदिर की प्रस्तर भित्तियों पर संपूर्ण रामकथा का चित्रण किया गया है। सुमात्रा में हिंदू राज्य की स्थापना तथा भारतीय संस्कृति का विस्तार चौथी शताब्दी में हुआ। प्लेमवंग नामक स्थान कभी सुमात्रा की राजधानी था जहाँ भारतीय धर्म संस्कृति एवं अध्यात्म विषयों का शिक्षण होता था। पाली एवं संस्कृत भाषा यहाँ पढ़ाई जाती थी। इंडोनेशिया के वाली द्वीप के विषय में चीनी कहते हैं कि चौथी शताब्दी में कौण्डिन्यवंशी भारतीय राजा ने हिंदू राज्य की स्थापना की थी, जो दसवीं शताब्दी तक कायम रहा। बाद में वह हालैंड के अधीन आ गया।

बोर्नियो द्वीप सबसे बड़ा है। यहाँ हिंदू राज्य की स्थापना पहली सदी में हो गई थी। शिव, अगस्त्य, गणेश, ब्रह्मा, स्कंद आदि ऋषियों एवं देवताओं की मूर्तियाँ यहाँ प्राप्त हुई तथा कितने ही पुरातन हिंदू मंदिर आज भी मौजूद हैं, जो यह बताते हैं कि यह द्वीप भारतीय संस्कृति का गढ़ रह चुका है।

इतिहासकारों का मत है कि थाईलैंड का पुराना नाम स्याम देश था। तीसरी शताब्दी में वह भारत का उपनिवेश बना तथा बारहवीं शताब्दी तक भारत के आधीन रहा। स्याम की सभ्यता भारतीय संस्कृति से पूरी तरह अनुप्राणित है। उसकी लिपि का उद्गम पाली भाषा में हुआ है, जो भारत की देन है। उनके रीति-रिवाजों में भारतीय जैसा साम्य दिखाई पड़ता है। दशहरा जैसे पर्व धूमधाम से मनाए जाते हैं। थाई

प्रज्ञोपनिषद् ४.९

जीवन में राम एवं रामायण के कथानक की गहराई तक जड़ें जगी हुई हैं। अष्टमी, पूर्णिमा, अमावस्या आदि पर्वों पर भारत की तरह वहाँ भी छुट्टियाँ रहती हैं। थाई रामायण का नाम रामकियेन है, जिसका अर्थ होता है रामकीर्ति। थाईलैंड में अयोध्या और लोषपुरी जैसी नगरियाँ हैं।

तिब्बती साहित्य पर बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव है। वहाँ के राजा सांगचन गंपो ने भारतीय लिपि के आधार पर तिब्बत की वर्णमाला का आविष्कार किया, नालंदा के आचार्य शान्तरक्षित

ने सन् ७४७ में तिब्बत पहुँच कर समये नामक पहला बिहार बनवाया। तत्पश्चात् काश्मीर के भिक्षुक पद्मसंभव के प्रयत्नों से वहाँ महायान की तान्त्रिक शाखा का प्रचार हुआ। लामावाद की उत्पत्ति उसी से हुई।

ऐसे अगणित प्रमाण संसार के विभिन्न देशों में बिखरे पड़े हैं, जो यह बताते हैं कि भारत समय-समय पर अपने भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान सागर से इस वसुधा को अभिसिंचित करता रहा है।

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते देवसंस्कृतिजिज्ञासा इति प्रकरणो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥